



सोशल मीडिया का नियमन

संपादकीय

गत वर्ष दिसंबर में सूचना प्रौद्योगिकी मध्यवर्ती संस्था दिशानिर्देश संशोधन नियम, 2018 का प्रारूप जारी किया गया था और 31 जनवरी 2019 तक उस पर जनता से राय मांगी थी। यह प्रारूप सूचना प्रौद्योगिकी (आईटी) एवं संबंधित सेवाएं देने वाले सभी प्लेटफॉर्म एवं कंटेंट एग्रीगेटर के नियमन के लिए तैयार किया गया है। इन आईटी मध्यवर्ती संस्थाओं में नेटवर्क सेवा प्रदाता, इंटरनेट सेवा प्रदाता, सर्च इंजन, ऑनलाइन भुगतान प्लेटफॉर्म और सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म आते हैं। यह प्रारूप मूलतः सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म की जवाबदेही बढ़ाने के लिए बनाया गया है।

नए दिशानिर्देश यह सुनिश्चित करते हैं कि सोशल मीडिया क्षेत्र की वैश्विक कंपनियां भी भारतीय कानूनों का पालन करें। भारत में 50 लाख से अधिक उपभोक्ताओं वाले प्लेटफॉर्म या सरकार द्वारा अधिसूचित किसी भी प्लेटफॉर्म को भारतीय कानून का अनुसरण करना होगा और उन्हें यहां अपना पंजीकृत कार्यालय भी रखना होगा। इन कंपनियों को प्रवर्तन एजेंसियों के साथ समन्वय रखने और कानूनों के अनुपालन पर निगरानी रखने के लिए अपना एक नोडल अधिकारी नियुक्त करना होगा। इन कंपनियों का व्यवस्थित एवं प्रभावी नियमन होना ही चाहिए क्योंकि फर्जी खबरें एवं अफवाहें फैलाने में सोशल मीडिया का खूब दुरुपयोग हो रहा है।

लेकिन इस मसौदे में कुछ बेचैन करने वाले पहलू भी हैं। यह निगरानी एवं सेंसरशिप के चक्र को सख्त करता है और निजी पक्ष भी इसकी जद में आ जाते हैं। ऐसा होने से सोशल मीडिया उपभोक्ताओं की निजता और उनकी अनामता खत्म हो जाती है। इसमें सोशल मीडिया से हटाए जाने लायक सामग्री की व्याख्या के लिए बेहद व्यापक एवं अपरिभाषित शर्तों का भी इस्तेमाल किया गया है। भारत में अब भी निजता का कानून नहीं है और न ही डिजिटल संभाषण एवं निजता को संरक्षण देने का कोई प्रावधान ही है।

इन दिशानिर्देशों के मुताबिक, अधिकारियों की तरफ से मांग आने पर 24 घंटे के भीतर संदिग्ध सामग्री अपलोड करने वालों की 'पहचान' करनी होगी। लेकिन कूटलेखन तोड़े बगैर ऐसा कर पाना तकनीकी रूप से मुश्किल है। लेकिन कूटलेखन भंग करने से सामग्री की निजता एवं अनामता दोनों पूरी तरह खत्म हो जाती है। दूसरा, इस संशोधन में मध्यवर्ती इकाइयों को तमाम तरह की सामग्रियों की त्वरित पहचान एवं उन्हें हटाने के लिए तकनीक का भी इस्तेमाल करने की जरूरत है। इससे निजी क्षेत्र पर सेंसरशिप लागू होने के साथ उस पर निगरानी भी बढ़ सकती है। ऐसी सामग्री को व्यक्तिनिष्ठ तरीके से 'नुकसानदायक' एवं 'अपमानजनक' शब्द के तौर पर परिभाषित किया गया है।

मध्यवर्ती संस्थाओं की भूमिका अधिकांश न्यायक्षेत्रों में विवादित रही है। निजी टिप्पणियां लिखने की अनुमति होने से इन प्लेटफॉर्म पर अनजान सामग्री आना लाजिमी है। जागरूक लोकतंत्रों में ऐसी सामग्री को दो व्यापक आयामों पर देखा जाता है। पहला आयाम 'सुरक्षित आश्रय' का है जिसमें किसी अनजान शख्स द्वारा गैरकानूनी या निंदापरक पोस्ट लिखे जाने पर उस मध्यवर्ती प्लेटफॉर्म को दोषी नहीं माना जाता है। लेकिन सक्षम अधिकारियों द्वारा संज्ञान में लाए जाने पर उस प्लेटफॉर्म को वह पोस्ट निश्चित समय के भीतर हटानी होती है। दूसरा, अनजान शख्स के लिखे शब्दों को ज्ञात स्रोतों द्वारा तैयार ऑनलाइन सामग्री के समान ही देखा जाता है। अगर यह सामग्री कानूनी दायरे में आती है तो किसी अनजान व्यक्ति की पोस्ट होने पर भी उसे हटाया नहीं जाना चाहिए।

प्रस्तावित संशोधनों में सामान्य समझ वाले इन प्रावधानों का अभाव नजर आता है। आईटी मध्यवर्ती इकाइयों को सेंसरशिप एवं निगरानी के लिए नहीं कहा जाना चाहिए। कोई भी कार्रवाई अदालती आदेश या संबंधित सरकारी विभागों के वरिष्ठ अधिकारियों के आदेश के आधार पर होनी चाहिए। इसके साथ ही ऐसी कार्रवाई के खिलाफ अपील का प्रावधान भी रखा जाना चाहिए।

वित्तीय कंपनियों के आचरण में गिरावट के कारण ?

देवाशिश बसु

बीते कुछ महीनों पर गौर किया जाए जो कारोबारी जगत से स्कैंडल और खराब संचालन के मामले निरंतर सुर्खियां बटोर रहे हैं। इन्फ्रास्ट्रक्चर लीजिंग ऐंड फाइनेंशियल सर्विसेज (आईएलएंडएफएस) मामला, दीवान हाउसिंग फाइनेंस लिमिटेड की खस्ता हालत, आईसीआईसीआई बैंक की पूर्व प्रबंध निदेशक की अनियमितता, जी के प्रवर्तक की ओर से सामने आया झटका, येस बैंक और ऐक्सिस बैंक के कुछ अज्ञात मसले (इन बैंकों के प्रमुखों को भी बाहर का रास्ता दिखाया गया है), स्टरलाइट और वेदांत के प्रवर्तकों का आत्म केंद्रित व्यवहार आदि ऐसे ही कुछ मामले हैं।

इनमें से प्रत्येक घटना के बाद शेयरधारकों के मूल्य में भारी गिरावट आई। डीएचएफएल की हालत सबसे अधिक खराब हुई और उसके शेयर की कीमत 700 रुपये प्रति शेयर से गिरकर 110 रुपये प्रति शेयर रह गई। इस प्रकार सितंबर 2018 से अब तक इसमें 85 फीसदी की गिरावट आई है। येस बैंक की शेयर कीमत आधी रह गई है। आईएलएंडएफएस सूचीबद्ध कंपनी नहीं है लेकिन उसकी खस्ता हालत का असर समूचे वित्तीय क्षेत्र पर महसूस किया गया है, नकदी की कमी हो गई है, लोग जोखिम लेना नहीं चाह रहे।

ये घटनाएं एक के बाद एक घटित हुईं और इन्होंने एक बार पुनः यह दर्शाया कि किसी सार्वजनिक रूप से सूचीबद्ध कंपनी के भीतर क्या कुछ चल रहा है, इसके बारे में शेयरधारकों को कितनी सीमित जानकारी होती है। यह बात जितनी खुदरा निवेशकों पर लागू होती है उतनी ही संस्थागत निवेशकों पर भी। क्या ऐसे हालात को टालने के लिए कुछ किया जा सकता है? एक हद तक तो यह कि जब भी ऐसी कोई दुर्घटना घटित होती है, कहीं न कहीं से नियमन और कड़े करने की मांग आने लगती है। दूसरा छोर यह है कि कुछ लोग कहना शुरू कर देते हैं कि कदाचार का नियमन करना संभव ही नहीं है। कहने का अर्थ यह है कि ऐसी घटनाएं होती रहेंगी और नियमन इन्हें रोक नहीं सकता। क्या यह संभव है कि इन दोनों ध्रुवों के बीच कोई सार्थक दृष्टिकोण हासिल किया जा सके। अगर इसका उत्तर हां है तो क्या वाकई कॉर्पोरेट कदाचार की समस्या कोई प्रभावी हल वाकई तलाश किया जा सकता है?

गहराई से नजर डालकर हम ऐसे मामलों को कम अवश्य कर सकते हैं। कॉर्पोरेट कदाचार की दिक्कतों से निपटने में फिलहाल यही किया जा सकता है। आईएलएंडएफएस, डीएचएफएल, आईसीआईसीआई बैंक, येस बैंक, ऐक्सिस बैंक आदि नामों पर ध्यान दीजिए, ये सभी वित्तीय संस्थान हैं। यह भी ध्यान रहे कि संगठित वित्तीय क्षेत्र, सरकारी बैंकों में मची भारी भरकम लूट ने देश की आर्थिक वृद्धि को बहुत गहराई से प्रभावित किया है। इस लूट के लिए नेता, बाबू, बैंकर और कारोबारी, सभी जवाबदेह हैं। इन सबके बीच सरकारी बैंकों और गड़बड़ वित्तीय कंपनियों ने छोटे जमाकर्ताओं को सबसे अधिक नुकसान पहुंचाया है। इसका सीधा असर अर्थव्यवस्था पर भी पड़ा है। अगर कोई व्यवस्थागत संकट है, अगर खुदरा

जमाकर्ताओं के पैसे को जोखिम है, तो आप शर्त लगा सकते हैं कि एक या एक से अधिक वित्तीय कंपनियां इसकी वजह होंगी।

अमेरिका से उपजा वित्तीय संकट जो तेजी से भारत समेत पूरी दुनिया में फैल गया, उसके लिए शेयर ब्रोकरों और संस्थागत निवेशकों की मदद से लिया गया कर्ज जवाबदेह था। ऐसा नहीं है कि गैर वित्तीय कंपनियों को इन वित्तीय घपलों-घोटालों के लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता है, परंतु ऐसी घटनाएं बहुत कम हैं। बीतते वर्षों के दौरान प्रतिभूति बाजार में नियमन और खुलासों ने यह सुनिश्चित कर दिया है कि समझदार निवेशक ऐसी दुर्घटनाओं से बच सकें। वे खराब संचालन वाले प्रवर्तकों से दूरी बरत सकते हैं। वित्तीय कंपनियों की निगरानी एक अलग मसला है। वित्तीय कंपनियों को परिचालन के लिए कड़े नियमों की आवश्यकता है। अगर वे सूचीबद्ध हैं, तो उनकी निगरानी कम से कम दो नियामकों मसलन प्रतिभूति बाजार नियामक यानी सेबी और वित्तीय बाजार नियामक यानी रिजर्व बैंक द्वारा की जानी चाहिए। आवास वित्त कंपनियों की अतिरिक्त निगरानी राष्ट्रीय आवास बैंक करता है। अगर इस बारंबार संकट का कारण वित्तीय कंपनियां हैं तो क्या यह कहा जाए कि नियामक अपना काम ठीक से नहीं पूरा कर रहे हैं? इन सवालों के जवाब तलाशने की कोशिश कीजिए:

सरकारी बैंकों को बीते 20 वर्षों में बार-बार जनता के पैसे से उबारना पड़ा है। इसके लिए कितने लोगों को जवाबदेह ठहराया गया? एक स्कूली विद्यार्थी भी यह बात जानता है कि किसी भी तरह के ऋण के बदले कुछ जमानत होनी चाहिए। सरकारी बैंकों की 10 लाख करोड़ रुपये की जो राशि डूबी उसके लिए कौन उत्तरदायी है। वह पैसा इसलिए वापस नहीं आया क्योंकि उसकी ली सकने वाली जमानत कुछ थी ही नहीं। वित्त मंत्रालय तीन दशकों से जनता का पैसा सरकारी बैंकों में क्यों डालता आ रहा है? जबकि इसके बजाय उसे कुछ ठोस बुनियादी कदम उठाने थे। अगर दीवान हाउसिंग फाइनेंस का पतन होता है तो क्या राष्ट्रीय आवास बैंक से सवाल किया जाएगा?

आईएलएंडएफएस जिसकी निगरानी आरबीआई के पास रही है, उसे तीन दशक तक कुछ लोगों ने निजी कारोबार की तरह कैसे बरता? उसे करीब 350 कंपनियों का जाल कैसे बुनने दिया गया जिन्होंने मिलकर एक लाख करोड़ रुपये से अधिक का ऋण लिया। आरबीआई का शीर्ष नेतृत्व आईएलएंडएफएस के व्हिसल ब्लोअर्स के विभिन्न पत्रों पर पेशकदमी करने से चूक तो नहीं गया? अगर ऐसा हुआ तो क्या किसी को दंडित नहीं किया जाना चाहिए?

यह वित्तीय क्षेत्र की अनियमितताओं का एक छोटा सा उदाहरण भर है। इस क्षेत्र में कहीं अधिक कड़े नियमों की आवश्यकता है। ऐसे नियम जिन्हें व्यवहार में अमल में लाया जा सके और जो केवल कागजी बनकर न रह जाएं। इसके बजाय हमारे यहां ऐसे नियमनों को तोड़ मरोड़ लिया जाता है। इसके पीछे भी

भ्रष्टाचार और अक्षम नियामक ही प्रमुख वजह हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि व्यवस्थागत जोखिमों से बचने का एक प्रमुख तरीका यह है कि नियामकों, खासतौर पर सीधे वित्तीय फर्म के प्रभारी नियामकों को हर बड़ी गड़बड़ी के लिए प्रत्यक्ष तौर पर उत्तरदायी ठहराया जाए। प्रश्न यह है कि नियामकों की निगरानी कौन करेगा? यह काम तो वित्त मंत्रालय और प्रधानमंत्री कार्यालय के हवाले ही है क्योंकि प्रमुख कमान और नियंत्रण के केंद्र तो वही हैं। परंतु अधिकतम शासन के पांच वर्ष होने को हैं, लेकिन इन कार्यालयों ने वित्तीय नियामकों को जवाबदेह नहीं बनाया है।

Date:13-02-19

सजा और संदेश

संपादकीय

अदालत की अवमानना के मामले में केंद्रीय जांच ब्यूरो (सीबीआइ) के पूर्व अंतरिम निदेशक नागेश्वर राव और एजेंसी के कानूनी सलाहकार को सर्वोच्च अदालत ने जो सजा दी, उसका बड़ा संदेश गया है। संदेश यह है कि कोई कितना ही बड़ा अधिकारी क्यों न हों, वह कानून से ऊपर नहीं है और उसे विधि के शासन को मानना ही होगा। दोनों अधिकारियों को अदालत उठने तक एक कोने में बैठा दिया गया और एक-एक लाख का जुर्माना भी लगाया गया। यह अदालत की सर्वोच्चता और सम्मान से जुड़ा मसला है। सवाल है कि अगर सर्वोच्च अदालत के फैसलों-आदेशों की अवहेलना होने लगेगी, तो लोकतंत्र का यह सबसे महत्वपूर्ण स्तंभ कैसे काम कर पाएगा और कैसे इसके अस्तित्व की रक्षा हो पाएगी! कैसे हम निष्पक्ष न्याय की कल्पना कर पाएंगे? सर्वोच्च अदालत का काम संविधान की रक्षा और न्याय सुनिश्चित करना है। लेकिन नागेश्वर राव का प्रकरण बताता है कि हमारे नौकरशाहों में अपने को कानून से ऊपर मान कर चलने की प्रवृत्ति विकसित हो रही है। यह अच्छा संकेत नहीं है।

नागेश्वर राव ने सीबीआइ के अंतरिम निदेशक की जिम्मेदारी संभालने के बाद जिन अफसरों का तबादला किया था, उन्हीं में बिहार के मुजफ्फरपुर आश्रय गृह मामले की जांच करने वाले सीबीआइ के संयुक्त निदेशक एके शर्मा भी थे। शर्मा को इस जांच की जिम्मेदारी सुप्रीम कोर्ट के निर्देश पर ही सौंपी गई थी। जाहिर है, बिना सर्वोच्च अदालत की अनुमति के शर्मा का तबादला नहीं किया जा सकता था। मगर उन्हें सीबीआइ से हटा कर सीआरपीएफ के अतिरिक्त महानिदेशक के पद पर भेज दिया गया। ऐसा कर नागेश्वर राव ने सर्वोच्च अदालत की तौहीन की। इस फैसले पर पहला सवाल तो यही उठा कि आखिर

नागेश्वर राव एक गंभीर मामले की जांच के लिए अदालत की ओर से नियुक्त अधिकारी को क्यों हटाना चाहते थे। इससे यह आशंका जन्म लेती है कि क्या किसी दबाव में आकर राव ने शर्मा का तबादला किया होगा! वरना शर्मा के तबादले की वजह क्या हो सकती थी।

जिस तरह सीबीआइ के पूर्व अंतरिम निदेशक ने सर्वोच्च अदालत के आदेश को धता बताई, उससे उनके विवेक पर सवाल खड़े होते हैं। सीबीआइ निदेशक का पद खाली होने के बाद कार्यवाहक निदेशक के रूप में एजेंसी के प्रमुख की जिम्मेदारी निभाने वाले नागेश्वर राव वष्ठितम आइपीएस अफसरों में हैं। इसलिए सवाल उठता है कि क्या उन्हें यह जानकारी नहीं रही होगी कि जब सर्वोच्च अदालत ने शर्मा के तबादले पर पाबंदी लगा रखी है, तो उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था! अगर करना ही था, तो उसके लिए सर्वोच्च अदालत से अनुमति लेते। शर्मा के तबादले जैसा कदम उठा कर राव ने न सिर्फ विवेकहीनता का परिचय दिया, बल्कि उससे एक पुलिस अधिकारी के उस दंभ को भी प्रकट किया, जिसमें अपने को अदालत से ऊपर मान कर चलने की दुष्प्रवृत्ति झलकती है। नागेश्वर राव ने जरा भी नहीं सोचा कि वे जिस ओहदे पर हैं उसकी एक गरिमा है, उनके अधीनस्थ साथी उनके रुख का अनुसरण करने लगेंगे तो क्या होगा? हाल में सीबीआइ जैसे शीर्ष जांच संस्थान की साख को इसके सर्वोच्च अधिकारियों की वजह से काफी धक्का लगा है। पहले शीर्ष अफसरों ने एक-दूसरे पर भ्रष्टाचार के आरोप लगाए थे, और फिर एक अंतरिम प्रमुख ने सर्वोच्च अदालत को कमतर आंकने का दुस्साहस किया। सवाल है कि ऐसे अधिकारी होंगे तो कैसे निष्पक्ष और सुशासन की कल्पना की जा सकती है !

The shape of the jobs crisis

India has no industrial policy or employment strategy to ride the wave of its demographic dividend

Santosh Mehrotra is Professor of Economics and Chairperson, Centre for Informal Sector and Labour Studies, Jawaharlal Nehru University, New Delhi.

Job creation has slowed since 2011-12, the year of the last published National Sample Survey Office (NSSO) labour force survey. I used Labour Bureau annual survey (2015-16) data and Centre for Monitoring Indian Economy Pvt. Ltd. (CMIE) data (post-2016), which has a sample size larger than the NSSO labour force surveys, to reach this conclusion. Both surveys cover rural and urban, and organised and unorganised sector employment; in other words, they capture both the Employees' Provident Fund Organisation/National Pension Scheme (organised) as well as such employment as might be generated by Micro Units Development & Refinance Agency Ltd (MUDRA) loans or platform economy jobs. The latter two job sources are precisely what the government claims were not being captured by jobs data available. We have repeatedly stated that government claims on absence of 'good' data on jobs are simply untenable.

My analysis prior to the leak of NSSO 2017-18 data had shown that the jobs situation has turned grim since 2012.

A jump now

What the leaked NSSO 2017-18 data have shown is that while the open unemployment rate (which does not measure disguised unemployment and informal poor quality jobs that abound in the economy) by the usual status never went over 2.6% between 1977-78 and 2011-12, it has now jumped to 6.1% in 2017-18. This was expected. In the last 10-12 years, more young people have become educated. The tertiary education enrolment rate (for those in the 18-23 age group) rose from 11% in 2006 to 26% in 2016. The gross secondary (classes 9-10) enrolment rate for those in the 15-16 age group shot up from 58% in 2010 to 90% in 2016. The expectation of such youth is for a urban, regular job in either industry or services, not in agriculture. If they have the financial wherewithal to obtain education up to such levels, they can also “afford” to remain unemployed. Poor people, who are also much more poorly educated, have a much lower capacity to withstand open unemployment, and hence have lower open unemployment rates.

What NSSO 2017-18 also shows is that as open unemployment rates increased, more and more people got disheartened and fell out of the labour force; in other words, they stopped looking for work. The result is that labour force participation rates (LFPR, i.e. those looking for work) for all ages, fell sharply from 43% in 2004-5 to 39.5% in 2011-12, to 36.9% in 2017-18 (a reflection mainly though not only of the falling female LFPR). This shows up in the growing numbers of youth who are NEETs: not in education, employment or training. They are a potential source of both our demographic dividend but also what is looking to be a mounting demographic disaster.

Meanwhile, government economists have repeatedly told us that there is no jobs crisis.

Between 2004-05 and 2011-12, as many as 7.5 million new non-agricultural jobs were being created every year. The unemployment rate was only 2.2%. The volume of open unemployment was almost constant (at around 10 million) until 2011-12, but it increased to 16.5 million by 2015-16. Increased open unemployment, post 2011-12, suggests that those in education prior to 2011-12 would start searching for non-agricultural jobs but did not find them. The latest NSSO data suggest that this situation had worsened further by 2017-18.

Across education categories

A sharp increase in the unemployment rate of the educated (based on our estimates of the Annual Survey, Labour Bureau) should have worried the government. My estimate is that the unemployment rate rose over 2011-12 to 2016 from 0.6% to 2.4% for those with middle education (class 8); 1.3% to 3.2% for those who had passed class 10; 2% to

4.4% for those who had passed class 12; 4.1% to 8.4% for graduates; and 5.3% to 8.5% for post-graduates. Even more worrying, for those with technical education, the unemployment rate rose for graduates from 6.9% to 11%, for post-graduates from 5.7% to 7.7%, and for the vocationally trained from 4.9% to 7.9%.

While NSSO 2017-18 data show the share of regular wage jobs rising, especially in urban areas (and the share of self-employed and casual wage work falling), this rise is nowhere close to the number of educated youth entering the labour force.

For an economy at India's stage of development, an increase of workers in agriculture (of 20 million that took place over 1999-2004) is a structural retrogression, in a direction opposite to the desired one. Between 2004-5 and 2011-12, the number of workers in agriculture fell sharply, which is good, for the first time in India's economic history. Similarly, the number of youth (15-29 years) employed in agriculture fell from 86.8 million to 60.9 million (or at the rate of 3 million per annum) between 2004-5 and 2011-12. However, after 2012, as non-agricultural job growth slowed, the number of youth in agriculture actually increased to 84.8 million till 2015-16 and even more since then (as the CMIE data would attest). These youth were better educated than the earlier cohort, but were forced to be in agriculture.

Drop in manufacturing jobs

Even worse, manufacturing jobs actually fell in absolute terms, from 58.9 million in 2011-12 to 48.3 million in 2015-16, a whopping 10.6 million over a four-year period. This is consistent with slowing growth in the Index of Industrial Production (IIP), which consists of manufacturing, mining, and electricity. The IIP had sharply risen from 100 in 2004-5 to 172 by 2013-14 (in the 2004-5 series), but only rose from a base of 100 in 2011-12 in the later series to 107 in 2013-14, and to 125.3 in 2017-18. This is also consistent with exports first falling after 2013, then barely recovering to levels still lower than 2013. It is also consistent with investment-to-GDP ratio falling sharply since 2013, and still remaining well below 2013 levels. This holds for both private and public investment.

What is tragic is the growing number of educated youth (15-29 years) who are "NEET". This number (70 million in 2004-5) increased by 2 million per annum during 2004-5 and 2011-12, but grew by about 5 million per annum (2011-12 to 2015-16). If that later trend continued (as there is evidence it has) we estimate it would have increased to 115.6 million in 2017-18. That is a 32 million increase in "NEETs" in our society over 2011-12 to 2017-18 — potential lumpen fodder.

These youth ("NEET" and unemployed) together constitute the potential labour force, which can be utilised to realise the demographic dividend in India. Will a new government at least recognise there is a crisis?

I estimate that the number of new entrants into the labour force (currently at least 5 million per annum), and especially educated entrants into the labour force will go on increasing until 2030. It will thereafter still increase, though at a decelerating pace. By 2040 our demographic dividend — which comes but once in the lifetime of a nation — will be over. China managed to reduce poverty sharply by designing an employment strategy (underpinned by an education and skills policy) aligned to its industrial strategy. That is why it rode the wave of its demographic dividend. Unfortunately, India has neither an industrial policy nor an employment strategy, let alone the two being aligned.

Is our political class listening? Or are our educated unemployed and NEETs meant to be merely used as political fodder? That is the trillion rupee question for the fastest growing large economy in the world, about to become the fifth largest in the world.